

जिल्दसाज़

(1)

वह अधेड़ जिल्दसाज़ सबेरे से शाम तक और अंधेरा होने पर दिये की रोशनी में बड़ी रात तक, अपनी छोटी-सी दुकान में अकेला एक फुट लम्बी चटाई पर बैठा किताबों की जिल्दें बाँधा करता। उसकी मोटी व भद्दी अंगुलियाँ बड़ी उतावली से अनवरत रंग-बिरंगे कागजों के पन्नों में उलझती रहतीं और उसकी धुंधली आँखें नीचे को झुकी काम में व्यस्त रहतीं।

जिल्दसाज़ का स्वभाव रूखा था व स्वर तीखा। ग्राहकों को अपनी मजूरी के जो दाम वह एक बार बता देता, उनमें कमी-बेशी न करने की उसे एक जिद-सी थी। लेकिन ग्राहक उसकी इस जिद और रूखाई पर भी उसके यहाँ किताबें डाल जाते; क्योंकि जिल्दसाज़ वास्तव में किताबों की जिल्द बहुत सुन्दर बाँधता था। किताबों की जिल्द बाँधना ही उसके एकाकी विरक्त जीवन में सत्य था। और सत्य ही तो सुन्दर होता है।

एक दिन सबेरे जिल्दसाज़ नित्य की भाँति अपनी दुकान में बैठा काम कर रहा था कि इतने में एक स्त्री उसके सामने आ खड़ी हुई। उसके साथ उसका आठ साल का बालक भी था।

स्त्री ने पूछा- “क्यों जिल्दसाज़, रहीम की किताब की जिल्द तुम्हीं ने बाँधी है?”
जिल्दसाज़ ने नज़र ऊपर की।

रहीम? रहीम कौन? वह किसी रहीम को नहीं जानता। न जानने की उसे ज़रूरत ही है। यह कैसी पागल स्त्री है। काम की बात क्यों नहीं करती? उसके पास तो काम है। काम को लेकर ही वह जीता है। काम ही उसे सही रास्ते पर ले जा रहा है। उसके पास ऐसी कहाँ फुरसत, जो वह किसी से अपना सरोकार जोड़े। जिल्दसाज़ बोला- “मुझे नहीं मालूम। तुम अपना काम बताओ।”

स्त्री जिल्दसाज़ के रूखे जवाब से झेंप गयी। उसने बताया- “भाई, रहीम की किताब की जिल्द देखकर मेरा लड़का भी अपनी फटी किताब की जिल्द बँधाने के लिये जिद पकड़े हुए है। यह रही किताब। बताओ, क्या लोगे?”

जिल्दसाज़ ने स्त्री के साथ से किताब लेकर उसे उल्टा-पल्टा। तब लापरवाही से उसने यह कह दिया- “छै आने पैसे होंगे।”

जिल्दसाज़ के लिये सौदा तय रहा, इससे वह काम में लग गया।

पर स्त्री के पास तो पैसों का सवाल था।

वह बोली- “भाई, छै आने तो बहुत होते हैं। मैं मेहनत-मजूरी करके पेट पालने वाली कहाँ से पाऊँगी? मुझसे तीन आने ले लेना। मैं तुम्हारा बड़ा गुन मानूँगी।”

जिल्दसाज़ भुनभुना उठा।

उसकी बात को दुलखने वाली यह स्त्री कौन होती है? उसकी बात आज तक किसी ने नहीं दुलखी। हमेशा उसे मुँह मांगे दाम मिले हैं। उसने जो चाहा है, वह ग्राहकों ने खुशी से दिया है। और क्यों न देंगे? वह क्या कोई काम में खोट करता है? तब इस स्त्री का उसकी हेठी करने का क्या मतलब? काम की बात में गुन-एहसान की क्या बात? उसका सम्बन्ध तो इस दुनिया से अब तक लेन देन का रहा है। वह तो केवल अपनी मजूरी और चोखे काम को चीन्हता है। उसे दया और एहसान की बात क्या मालूम?

जिल्दसाज़ ने बताया- “छै आने से मैं एक कौड़ी भी कम नहीं लूँगा।”

स्त्री ने आजिजी की- “भाई, खुदा तुम्हें बहुत देगा। तुम्हारी मेहरबानी से मेरे बच्चे का दिल रह जायगा।”

जिल्दसाज़ इस बार चिढ़ गया।

खुदा? खुदा को वह क्या जानता है? कुल जमा उसने अपनी दुकान से ही जीने के लिए पूंजी पायी है। रोजगार, किताबें, कागज बस इन्हीं के बीच तो उसकी जिन्दगी के लम्बे-लम्बे बरस कटे हैं। उसने तो कभी नहीं महसूस किया कि इस जिन्दगी को चलाने के लिए खुदा की भी कहीं किसी तरह से जरूरत पड़ती है। तब खुदा क्या खाक मदद करेगा?

जिल्दसाज़ झल्लाकर बोला- ‘‘मैं खुदा-उदा की बात नहीं जानता। जब तेरे पास पैसे ही नहीं थे, तब तू यहाँ क्यों आयी? जा, सिर ना खा। काम करने दे।’’

जिल्दसाज़ फिर किसी किताब के पन्ने ठीक जमाने लगा।

लेकिन इस तरह से डांटे जाने पर भी स्त्री वहाँ से नहीं टली और उसका बालक भी उसी तरह घबराहट से अपनी माँ का हाथ पकड़े खड़ा रहा। स्त्री कभी काम करते जिल्दसाज़ को देखती और कभी उसकी निगाह जिल्दसाज़ की जालों और गर्द से भरी दुकान की दीवारों से टकराती। एकाएक कोई बात उसे सूझ गयी।

स्त्री ने सहमते-सहमते पूछा- ‘‘अच्छा, भाई बाकी बचे तीन आने में मैं तुम्हारी दुकान झाड़-बुहार दूंगी और जाले व गर्द साफ कर दूंगी। तब तो तुम मेरे बच्चे की किताब की जिल्द बाँध दोगे?’’

जिल्दसाज़ अब सचमुच असमंजस में पड़ गया। ऐसा गरीब ग्राहक उसकी जिन्दगी में अब तक नहीं गुज़रा था। उसने काम छोड़ स्त्री पर निगाह डाली। अचानक उसकी दिल की बस्ती में नमी छा गई। उसने पहली बार स्त्री के दीन और निस्सहाय चेहरे को देखा। उसकी पैबन्दों से भरी ओढ़नी को परखा। लड़के का मासूम और बेबस चेहरा भी उससे छिपा नहीं रहा। जिल्दसाज़ के अन्तर में आज पहली बार रहम बरस पड़ा।

जिल्दसाज़ तब अपने को छिपाते हुए बोला- ‘‘अच्छा दो किताब। मैं मुफ्त बाँध दूंगा। कल आकर तुम ले जाना।’’

जिल्दसाज़ फिर किताब ले, बिना उस स्त्री और बालक की ओर देखे, झट कागजों की कतरन में कोई चीज़ खोजते खो गया।

(2)

दूसरे दिन वह स्त्री अपने बालक के साथ किताब लेने आयी। जिल्दसाज़ ने किताब निकाल बालक को दे दी।

बालक किताब देख खुशी से नाच उठा।

बोला- “इतनी सुन्दर जिल्द तो माँ, रहीम की किताब की भी नहीं बँधी।”

माँ अपने बच्चे की खुशी में फूल उठी। वह जिल्दसाज़ से बोली- “भाई खुदा तुम्हारी रोजी में बरकत दे।”

किन्तु जिल्दसाज़ यह सब कुछ नहीं देख सुन रहा था। वह इस ध्यान में उलझा था कि इन दो परदेशियों से किसी अनजाने क्षण में उसकी जो पहचान जुड़ गयी है, वह क्या यहीं टूटकर खत्म हो जायेगी? वह अब अपने अकेलेपन से ऊब उठा था। उसके लिए अब जगत का कोई अर्थ हो आया था। उसका मन अब रोजी को ही सब कुछ मानने से इन्कार करने लगा। उसके अन्दर एक निराली प्यास उठ आयी थी। उसे मालूम पड़ रहा था कि वह प्यास किसी से अपना सरोकार जोड़कर ही शान्त की जा सकती है।

जब स्त्री बन्दगी करके चलने लगी, तब जिल्दसाज़-जैसा रूखा आदमी भी विकल हो उठा। उसने रूकते-रूकते कहा- “तुम कहाँ रहती हो?”

स्त्री का जवाब हुआ- “इसी मुहल्ले में रहती हूँ। आपकी दुकान से पन्द्रह-बीस घर छोड़ करके।”

“तुम्हारे खाविन्द क्या करते हैं?”- जिल्दसाज़ ये पूछते हुए इधर-उधर झांक रहा था।

स्त्री ने बताया- “मेरे खाविन्द का इन्तकाल हुए तो चार बरस होने आये।”

“तो तुम गुज़र कैसे करती हो?” जिल्दसाज़ का यह तीसरा प्रश्न था।

स्त्री बोली- “मैं बेलें बनाती हूँ बूटे काढ़ती हूँ और जरी का काम भी कर लेती हूँ। मगर आजकल यह मजूरी भी मुश्किल हो गयी है।” जिल्दसाज़ न जाने कुछ देर तक क्या सोचता रहा। तब उसने कहा- “तो सुनो। अगर तुम्हें उज़्र न हो तो बगल वाला मेरा जो कमरा खाली है, उसमें तुम आकर रह सकती हो। मेरे लिए तुम रसोई बनाना। मैं ऊपर से तुम्हें चार रूपया महीना दूंगा।”

स्त्री एक बारगी इतनी ढेर-सी मेहरबानी न सह सकी। उसका सिर कृतज्ञता के भार से झुक गया। वह धीमे स्वर में बोली- “शुक्रिया करती हूँ। आपने मुझ गरीब औरत को उबार लिया।”

आज जब स्त्री और उसका बालक खुश होते हुए घर चले गये, तब जिल्दसाज़ सूना-सा, खोया सा, लोगों की आती-जाती भीड़ को देखता अपनी उसी एक फुट चटाई पर सिकुड़ा अकेला बैठा था।

(3)

अगले दिन वह स्त्री अपने कपड़े लत्तों का एक टीन का बक्स, एक बिस्तर तथा दो-चार एल्यूमीनियम के बरतन ले जिल्दसाज़ के यहाँ चली आयी।

जिल्दसाज़ की ज़िन्दगी में एक नया ज़माना आया। उसका बर्ताव अब अपने ग्राहकों से रूखा नहीं होता था। वह बड़ी मुलायमी से उनसे पेश आता। दामों के लिए भी वह अब पहले के समान ज़िद नहीं करता। उनमें कमी-बेशी करके भी वह लोगों की किताबें डाल लेता।

जिल्दसाज़ जब किताबों की ज़िल्द बाँधने बैठता, तब वह पहले-जैसा एकाग्र चित्त नहीं रहता। बीच-बीच में वह बच्चे का पाठ सुनता और कभी उसके माँग करने पर उसे रंगीन कागजों की नावें व दवातें बनाकर देता। जिस दिन खेल तमाशा होता, उस दिन वह बालक को अपने साथ लिवा ले जाकर तरह-तरह के खिलौने व मिठाइयाँ दिला लाता।

शाम को जब वह काम से ऊब जाता, तब दुकान बंद कर देता। मुंह-हाथ धोकर नमाज पढ़ता व झुटपुटे में दुकान के चबूतरे पर बैठा आते-जाते लोगों को देखा करता और न जाने क्या सोचा करता।

रात होने पर वह बड़ी चाह से घर के भीतर रोटी खाने जाता। उसके साथ उस स्त्री का बालक रज्जब भी खाने बैठता। खाते-खाते जिल्दसाज़ भोजन की आलोचना करता और स्त्री शर्माती-सी उसकी बातों का जवाब देती। उस समय जिल्दसाज़ के नीरस-विरक्त जीवन में रस ही रस छलका दीख पड़ता।

एक दिन जिल्दसाज़ ने खाते-खाते रज्जब की माँ से पूछा- “क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है? यह तो तुमने कभी नहीं बताया।”

स्त्री ने भेदभरी हंसी हंसकर कहा- “नाम जानकर क्या करियेगा?”

जिल्दसाज़ जैसे पकड़ा गया। वह बोला- “नाम का क्या किया जाता है? मैं उसी नाम से पुकारूंगा। और क्या?”

स्त्री ने तब चूल्हे की आग तेज करते हुए बताया- “गुलशन”।

“अच्छा, तो मैं तुम्हें अब ‘गुल’ कहकर पुकारूंगा।” जिल्दसाज़ ने बड़ी संजीदगी से कहा।

गुलशन के गोरे गाल लाल हो गये। सुन्दर बाँकी आँखों में चिन्ता छा गयी। उसने बड़ी धीमी महीन आवाज़ में कहा- “नहीं नहीं। इस नाम से मेरे खाविन्द मुझे पुकारा करते थे।”

जिल्दसाज़ के मुंह से निकला- “तो?”

स्त्री कभी ऐसे आमने-सामने नहीं हुई थी। बोली- “तो क्या?”

जिल्दसाज़ ने इस बार गुलशन की आँखों में आँखें डालकर कहा- “तो तुम चाहती हो कि मैं तुम्हें उस नाम से न पुकारूँ? यह नहीं होने का। मैं तुमसे निकाह करना चाहता हूँ, पागलपन नहीं। बोलो, मंजूर है?”

रज्जब की माँ के लिये यह एक समस्या हो गयी। अभी तक, आज तक उसने एक सेविका की भाँति जिल्दसाज़ को प्रसन्न रखने की कोशिश की थी। उसकी हँसी का अपनी हँसी से उत्तर दिया था।

गुलशन ने सफाई दी- “मुझे माफी दो। मुझे इन काँटों में न घसीटो। मुझे बेकस को यों ही पड़ी रहने दो।”

जिल्दसाज़ का जोश गुलशन के जवाब से एकाएक ठंडा पड़ गया। लेकिन तब भी उसके भीतर के स्वर को ठेलते हुए जैसे उसने पूछा- “तो क्या तुम मुझे बिल्कुल नहीं चाहती?”

“नहीं, सो बात नहीं। मैं तुम्हारी दिलोजान से सेवा करूंगी। तुम्हारी हँसी का जवाब हँसी से दूंगी। मगर तुमसे अर्ज है, तुम मुझसे मेरे खाविन्द की याद ना छीनो।” गुलशन की सुन्दर आँखों में करूणा बरस रही थी।

जिल्दसाज़ एकदम टूट गया। लेकिन बुझते दीपक के क्षणिक आलोक जैसे उत्तेजित स्वर में वह बोला- “अभी तक मैंने इस दुनिया से कुछ नहीं पाया। आज आखिरी मर्तबा तुम्हें प्यार किया है, सो तुम भी मुझे ठुकराकर चूर-चूर कर देना चाहती हो। बोलो, क्या मैं तुम्हारी थोड़ी सी दया का भी अधिकारी नहीं?”

गुलशन बस इतना ही कह सकी- “मुझे माफी दो”।

जिल्दसाज़ निरूत्तर हो गया।

मिलन के आरम्भ में ज़िल्दसाज़ कठोर था और मिलन के अन्त में रज्जब की माँ।
ज़िल्दसाज़ अब भी किताबों की जिल्द बाँधा करता था और अब भी उसके पास
ग्राहक आते थे, किन्तु अब न तो वह उतनी सुन्दर जिल्दें बाँधता था और न उसके
पास पहले-जैसे ग्राहक आते थे।

विश्वमित्र 1934